वैज्ञानिक ढंगसे ही शीघ्र और निर्भ्रांति फल प्राप्त होते हैं।

जैन धर्मके समझनेके लिए यह आवश्यक है कि पहिले हम 'धर्म'का अर्थ समझ लें। हम निशदिन धर्म २ कहा करते हैं परन्तु उसके यथार्थ भावको समझनेमें असमर्थ हैं। भला जब इतने वर्तमान प्रचलित मत ही विविध विविध प्रकारका थोथा धर्म निरूपण करें तो उपर्युक्त असमर्थतामें संशय ही क्या है?

साधारणतया संसारमें चक्कर काटते हुए हम सदृश जीवोंको सांसारिक दुःख और पीडाओंसे हटा मुक्तिके सच्चे मार्गमें लगानेको धर्म कह सकते हैं। सर्व प्राणीसमुदाय भी—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि—प्रत्येक वस्तु और कार्य्यमें सुखकी वाञ्छा करते हैं। संसारमें ऐसा कोई जीव नहीं

है जो अगाध जीवन और किसी न किसी रूपमें वास्तविक आनंदका अभिलाषी न हो। धर्म ही एक ऐसा विज्ञान है जो इसकी दवा है। धर्मसे ही हमें वह सुख और आनंद मिल सक्ता है जिसके लिए प्राणीमात्र लालायित हो भटक रहे हैं। परन्तु विस्मय है कि जितने ही प्रचलित धर्म केवल आज्ञाओं और निरर्थक गुप्त समस्याओं पुराणादिकका निरूपण कर ही चुप हो रहे हैं जब कि इनके स्थानमें वैज्ञानिक ढंगकी आवश्यक्ता है। यह पहिले ही दर्शा दिया है कि विज्ञान (Science) ही एक ऐसा साधन है कि जिससे शंकाएं शीघ्र और निर्भ्रांतिरूपमें दूर कर दी जा सक्ती हैं और इच्छित पदार्थकी सिद्धि हो सक्ती है। जैन धर्ममें अन्य धर्मोंसे यही विलक्षणता है कि वह एक शुद्ध

निर्भ्रांति, और अपूर्व विज्ञान है और न उसमें निरर्थक रीतियोंका ही निरूपण है और न भयोत्पादक पूजा आदिसे ही पूर्ण है। जैनधर्ममें अंधश्रद्धाका भी अभाव है। वह अपने अनुयायियोंको प्रत्येक तत्वको न्यायपूर्ण परीक्षाकी कसौटी पर कसकर और उनके यथार्थ भावको समझ कर ही श्रद्धान करनेकी अनुमति देता है।

प्रारम्भमें जैनधर्ममें सर्व-प्राणी-समुदाय-तृषित सुखके यथार्थ रूपका निरूपण है। यद्यपि कुछ कालके लिए विषय सुख इन्द्रियोंको साता-सी पहुचा देते हैं परंतु यह तो प्रत्यक्ष ही है कि इन्द्रियजनित विषय सुखोंसे जीवोंकी तृषा नहीं बुझती। इन्द्रियजनित सुख पूर्णतया क्षण-भंगुर है, अन्य वस्तुओं और देहधारियोंके मेल पर निर्भर है। इनकी प्राप्ति दुःख पूर्ण है और अंत

भी दुःखदायी। आपसमें वैमनस्योत्पादक है। और वृद्धावस्थामें अथवा इन्द्रिय-शिथिलता पर पूर्ण अशांतिके दाता है। जिस व्यक्तिने अपनी आंतरिक इच्छाओं पर विचार किया होगा तो उसे विदित हुआ होगा कि वह विषयसुख उसे उसके इच्छित पदार्थ अथवा सुखकी पूर्ति कर शांति प्राप्त नहीं कराते। इनसे उसकी अशांति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। यथार्थमें जिस सुखकी प्राणीमात्र रक्षा करता है वह सुख ईश्वरीय सुखके सदृश अक्षय, अपरिमित है तथैव आत्माको सुखका उत्पादक है। वह इंद्रियलोलुपताकी पूर्तिके सदृश नहीं है। वह अपूर्व आनंद अथवा सुख है।

यह अपूर्व आनंद न क्षणभंगुर ही है और न इंद्रियजनित सुखके सदृश दुःख अथवा पीड़ा

उत्पादक। यह आनंद आत्माका ही निजी स्वभाव है। यद्यपि अज्ञानतमके कारण वह प्रकट नहीं है। इस वक्तव्यकी सत्यताका प्रमाण मनोवाञ्छाकी पूर्तिमें हमारी आत्माको सुखका अनुभव स्वतः ही हृदयसे बाह्य इंद्रिय साहाय्यके विना ही अनुभवित होनेमें है। गंभीर विचार करनेसे ऐसा सुख पूर्ण स्वतंत्रतामें ही प्रदर्शित होता है। वस्तुतः जब कभी भी आत्मासे यह आच्छादित वर्ण अथवा तमका अभाव हो जायगा तब ही स्वाभाविक आनंद झलक उठेगा। संसारी आत्मा स्वकृत्योंसे पूर्ण हैं अतः इन बाह्य बोझा बढ़ानेवाले कार्यादि उसे भारस्वरूप दुःखपूर्ण प्रतीत होते हैं। इन पर पदार्थोंके क्षय होनेपर आत्माको यथार्थ सुख अर्थात् स्वतंत्रता (मोक्ष) प्राप्त हो जाती है जिसकी

कृपासे आत्मा वास्तविक आनन्दका रसास्वादन करती है। अन्ततः अब यह प्रत्यक्ष है कि इन बाह्य सारस्वरूप पदार्थोंमें ही आत्माका स्वाभाविक आनन्द प्रदर्शित होता है और वह सुख स्वाभाविक होनेके कारण अक्षय है।

अज्ञान ही वह वस्तु है जिसके वश हो आत्मा स्वाभाविक आनन्दके उपभोगसे वंचित रहती है। कठिनतासे सहस्रों प्राणधारियोंमें कोई एक मिलेगा जो इस स्वाभाविक आनन्दके स्वरूपकी झलकसे भिज्ञ हो, नहीं तो सब ही मनुष्य अपने इर्दगिर्दकी बाह्य वस्तुओंसे इस स्वाभाविक आनन्दको प्राप्त करना चाहते हैं। परन्तु यह बाह्य वस्तुसमुदाय अपने स्वभावसे ही उसे देनेमें असमर्थ हैं। यदि मनुष्य अपने आन्तिरिक भावोंपर ही विचार करे तो भी उसे

विदित हो जाय कि जिस समय सच्चा आनन्द अनुभवगोचर होने लगे उसी समय उसकी पूर्ण मुक्ति हो जाय। आत्माके स्वाभाविक आनन्दके स्वरूपकी अनभिज्ञता-अज्ञानकारी ही आत्मा और सच्चे सुखके बीचमें रोड़ा हैं। अतः ज्ञान ही सच्चे सुखका मार्ग हैं।

आजकलके स्कूलों और कालिजोंमें जो ज्ञान सिखाया जाता है उससे यह सच्चा ज्ञान विशेष [illegible] योग्य और पूर्ण है। इस सच्चे ज्ञानमें न वस्तुओंका स्वभाव और प्रकृतिकी उन शक्तियोंका वर्णन है जिससे आत्माका स्वाभाविक आनन्द नष्ट हुआ है और पुनः प्राप्त हो सकता है। अन्य चाहे कोई ज्ञान मनुष्यको हितकर भी हो परन्तु सच्चे सुखके अभिलाषीके लिए यही ज्ञान अभीष्ट एवं श्रेष्ठ है।

इस ज्ञानके मुख्य सात ज्ञाप्य-आवश्यकीय पदार्थ हैं, जिनको जैनागममें तत्व कहते हैं। ये इस प्रकार हैं (१) जीतव्य अथवा चेतन पदार्थ अर्थात् जीव तत्व (२) अचेतन अर्थात् अजीव तत्व (३) आश्रवतत्व अर्थात् आत्मामें पुद्गलका आना (४) बंध तत्व (५) संवर तत्व (६) निर्जरा और (७) मोक्ष तत्व। इनका विशेष वर्णन निम्न प्रकार है:-

(१) जीव तत्व एक जीतव्य पदार्थ है और वह वास्तवमें परमोत्कृष्ट चेतना स्वरूप है। इसकी उत्पत्ति किसी दृष्टिसे भी पुद्गलसे नहीं है। स्वभावतः जीव तत्व सर्वदर्शी और सर्वानन्द पूर्ण है तथा अपरिमित अतुल और अक्षय बल-वीर्य संयुक्त है। जैसे अन्य सर्व पदार्थ अनादिनिधन हैं वैसे ही जीवतत्व है। यह

अमूर्तीक है इसलिए इन्द्रियोंद्वारा जानाजा नहीं सक्ता है। परन्तु दूसरी तरफ पूर्णतया निराकार भी नहीं है क्योंकि जितने पदार्थोंकी सत्ता सिद्ध है उतने समस्त पदार्थोंकी साकार होना आवश्यक है । जीव सदैवसे सत्तामें है । और सदैवसे ही पुद्गलसे सम्बन्धित है। इस कारण अपने स्वाभाविक गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त बल और अनन्त सुखके उपभोगसे वंचित है। सम्यक् चारित्रके अनुसार वर्तन करनेसे उन मलरूपी शक्तियोंका क्षय होजाता है जो आत्माके चार अनन्त चतुष्टय-(१) अनन्तदर्शन (२) अनन्तज्ञान (३) अनन्तसुख (४) अनन्तबल-नामक गुणको प्रकट नहीं होने देते हैं।

(२) अजीव तत्त्व चेतना रहित है और पांच प्रकारका है (१) पुद्गल (२) धर्म (३)

अधर्म (४) आकाश और (५) काल। जैन धर्मके अनुसार सृष्टिका कार्य अथवा विकास इन पंच अजीव पदार्थोंके एक या ज्यादाके और जीवोंके अभावमें नहीं हो सक्ता है। आकाश स्थान देनेके लिए आवश्यक है तो काल भी उतना ही चलाव-बढ़ावके लिए आवश्यक है। धर्म और अधर्म चलनेमें व अवकाश ग्रहण करनेमें क्रमशः सहकारी हैं। पुद्गल शरीरोंकी सामिग्रीका देनेवाला है और जीव जीतव्य ज्ञान और सुखोपभोग करने हेतु आवश्यक है। इन छः द्रव्योंका वर्णन जैनाचार्यों-ने जैन ग्रन्थोंमें विशेष रूपमें किया है अतः यहां उनका वर्णन करना उचित नहीं है।

(३) तीसरा तत्व **आश्रव** है। आत्मा-में कार्माण पुद्गल वर्गणाओंका आश्रवित होना

अथवा आनेका नाम आश्रव है। आश्रवके उदयरूपमें आत्मा पुद्गल परमाणुओंको स्वतः ही आकर्षित करने लगता है और इसके विविध कषायों वश ये परमाणु आत्मासे मिल जाते हैं जिससे आत्माके निजगुण ढंक जाते हैं और बंध बंध जाता है। जैनधर्म आत्माको अनादिसे ही इन कर्मोंके आश्रव और बंधके कारण दूषित मानता है जिसके कारण जीवात्मा अनादिसे ही जन्ममरण धारण कर भ्रमण करता फिर रहा है। यह कर्मबंध आत्मा और पुद्गलके मेलसे होते हैं। और इन्हींसे जीव अपने स्वाभाविक पूर्णता और स्वतंत्रतासे हाथ धो बैठता है। इस प्रकार एक बंधयुक्त—कर्म जंजीरोंसे जकड़ी हुई आत्मा उस चिड़ियाके सदृश है जिसके पंख सी

दिए गए हों, जिसके कारण वह उड़ नहीं सकती है। आत्मा अथवा जीव चिड़ियाके तरह वास्तवमें स्वतंत्र है। परंतु पुद्गलके सम्बन्धके कारण अपने पंख कटे हुए सा समझता है और अपने स्वाभाविक सुख व स्वतंत्रताका उपभोग नहीं कर सक्ता है।

(४) बंध आत्मामें कर्म्म वर्गणाओंका आश्रवित होकर काल स्थितिके लिए मिल जाकर ठहर जाना ही है जैसा ऊपर वर्णन कर चुके हैं।

निर्वाण अथवा मोक्ष प्राप्त करनेके पहिले इन कितने ही प्रकारके बंधनोंको तोड़ना ही पड़ता है।

(५) संवर तत्व आश्रवका प्रतिकारक है अर्थात् आत्मामें कर्म्ममलको एकत्रित होनेसे रोकता है। प्रत्यक्षतः जब तक आत्मासे कर्म

बंधकी पुद्गल वर्गणाएँ दूर नहीं कर दी जायगीं तब तक मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। अतः संवर अर्थात् हर समय आत्मामें आनेवाली कर्मवर्गणाओंको आश्रवित न होने देना मुक्ति प्राप्त करनेके मार्गमें प्रथम श्रेणी अथवा पादुकाके रूपमें है।

(६) जब अन्य पुद्गल वर्गणाओंका आश्रव होना रुक जाता है तब दूसरी श्रेणीमें उन पूर्व संचित कर्मवर्गणाओंको एक एक कर निकालना रह जाता है। यही दूसरी श्रेणी निर्जरा तत्व है। जब समस्त कर्मबंध तोड़ दिए जाते हैं और आत्माका पुद्गलसे किसी प्रकारका संबंध नहीं रहता तब आत्मा अपने स्वाभाविक गुण स्वतंत्रता, सुख और केवलज्ञानका अनुभव करती है।

(७) वां और अंतिम तत्व आत्माके वास्तविक उद्देश्यकी पूर्ति है। अर्थात् आत्माके निज स्वरूपकी स्वतंत्रता, मोक्ष अथवा सुखका पा लेना ही है। इस **मोक्ष** तत्वको आत्मा अपने साथ लगे हुए समस्त पुद्गलोंके दूर करने पर प्राप्त करती है।

इस प्रकारका इन तत्वोंका स्वरूप है। थोड़े हीमें जैन धर्मकी शिक्षा इस प्रकार है कि पुद्गल और मूर्तीक पदार्थोंसे वेष्टित संसारके जीव चेतन पदार्थ हैं। इनमें पूर्णपने और सर्वदर्शिताकी शक्ति विद्यमान् है। ये शक्तियां उनको उन्हें अपने सम्यक् वर्तावसे प्राप्त होती हैं। इन जीवोंके अनन्तदर्शन और अनन्त सुख संयुक्त पूर्णपनेका अभाव स्वोपार्जित कर्मोदयके कारण हुआ है। अर्थात् इन जीवोंने स्वतः ही पर

पदार्थोंको अपनाया है जिसके कारण वे अपने ही कृत्यों वश इन कर्म्म रूपी पुद्गल वर्गणाओंसे बांधे गये हैं। और अपने यथार्थ स्वरूप-को भूल रहे हैं! अतः अब केवल यही आवश्यक है कि जीव अगाड़ी अन्य पुद्गल वर्गणा-ओंका समावेश न होने दे और जो पूर्व संचित बंध स्वरूप सत्तामें है उनको विध्वंश कर दे। जिस समय यह किया जायगा उसी समय आत्माकी स्वाभाविक सर्वदर्शिता और पूर्णपना प्राप्त हो जायंगे और स्वतंत्रता, अतेन्द्रियता और आनन्दका उपभोग होने लगेगा। इस मतमें किसीसे प्रार्थना अथवा याचना करनेकी आवश्यक्ता तो है नहीं। और ध्यान देने योग्य विशेषता यह है कि कोई भी अन्य द्वार ऐसा नहीं है जो मोक्ष अथवा सुखमेंसे किसी

एकको भी दिला सके जिनके लिए जीवात्माएं मारे मारे फिर रहे हैं। समुचित प्रणालीका ढंग कारण-कार्य्यके सिद्धान्तपर निर्भर है।

उपर्युक्त वर्णित कारणवश ही जैन धर्ममें किसी भी व्यक्तिसे सुख अथवा मोक्षकी याचना करनेका अथवा तद्प्राप्ति हेतु उनकी पूजा करनेका निषेध है। ये सुख और मोक्ष आत्मा की निज वस्तुएं हैं। इस कारण बाह्य प्रकरणोंसे प्राप्त नहीं हो सक्ती। अतः अन्य प्रचलित सैद्धान्तिक मतोंके सदृश जैन धर्म परमात्मपदका निरूपण नहीं करता है और उन सर्व पूर्ण सिद्धोंकी उपासना उसी ढंगसे करनेका उपदेश देता है जिस ढंगसे हम अपने गुरुओंकी विनय करते हैं। सर्वोच्चतम विद्वान् गुरुके लिए परमोत्कृष्ट विनयकी आवश्यक्ता यथेष्ट ही है।

और सर्वज्ञ तीर्थंकरोंसे बढ़कर कोई अन्य गुरु हो ही नहीं सक्ता है। तीर्थंकर त्रिकालकी समस्त वस्तुओंके ज्ञाता हैं और उनका ज्ञान पूर्ण है जिसके फल स्वरूप उन्हें पूर्णपना अर्थात् सिद्धता प्राप्त है। इस प्रकारकी शिक्षा जैनधर्मकी है। और यह नितान्त ही सीधी साधी वैज्ञानिक ढंगकी है। गुप्त समस्यायों और भेदोंका तो नाम तक नहीं है जैसा कि अन्य मतोंमें पाया जाता है। जैनधर्मके अनुसार निर्वाणका मार्ग सम्यक् चारित्र कर संयुक्त है।

अब यह देखना शेष है कि जैन धर्मका आधुनिक सभ्यतापर क्या प्रभाव पड़ता है? कोई २ 'सभ्य' मनुष्य तो आजकल धर्मके नामसे ही घबड़ाते हैं। उनका विश्वास है कि धर्मके पालनके साथ ही साथ विचारी सभ्यताका भी अन्त हो जायगा।

परन्तु यह भ्रमपूर्ण विश्वास नितांत प्रमाण रहित ही है और उन्हीं लोगोंका है जो आत्माएँ यथार्थ दृश्यंसे अनभिज्ञ है और उनके निकट आत्मा इस जन्मके उपरांत फिर अगाड़ी जन्म धारण ही नहीं करेगी। सभ्यताको इन्द्रिय लोलुपता मान कर उसका अनर्थ करना न्याय संगत नहीं है। यथार्थमें सभ्यताके अर्थ आत्मशिक्षासे ही सम्बन्ध रखते हैं कारण कि जीवात्माएं यहां भी निरन्तर विकाशको प्राप्त होती रहती हैं और दूसरे जन्मोंमें भी। इन्द्रियलोलुपता कितनी भी सुदृष्टि क्यों न हो परन्तु अंततः अनंत आत्माके गुणोंकी घातक ही है कारण पहिले तो आत्माका अस्तित्व ज्ञान ही प्रगट नहीं होने देती और फिर इन पापाचारोंके कारण उसे नर्क

अथवा तिर्यञ्च गतिके दुःखोंमें ले पटकती है।
प्राचीन कालके मनुष्य बुद्धि, विद्या अथवा उस
वस्तुविज्ञानसे किसी प्रकार भी अनभिज्ञ अथवा
अल्पज्ञानी नहीं थे जिस ज्ञानके आधारसे इस
आधुनिक सभ्यताका निर्माण हुआ है। सुतरां
उनमें विशेषता और थी कि उनको विश्वास था
कि इन्द्रियलोलुपता दुःखोत्पादक और आत्मा
को निकृष्ट बनानेवाली है; इसी कारण उन्होंने
आवश्यकीय सीमाके अंतर्गतके उपरांत आत्म-
गुणको नष्ट करनेवाली शारीरिक इन्द्रिय पुष्टि-
कारक कला अथवा विज्ञानका निरूपण नहीं
किया था। मनुष्य और पशुमें केवल ज्ञान
शक्तिने बड़ा अंतर डाल दिया है कारण कि
ज्ञानकी महिमासे मनुष्य तो अपने स्वाभाविक
पूर्णपनेको प्राप्त कर सका है परन्तु पशु ज्ञानके

अभावमें असमर्थ हैं। अतः पशु गतिमें तो दशा सुधारनेका कोई कारण उपलब्ध नहीं है परन्तु इस मनुष्यावस्थामें जीवात्माओंको अपनी दशा सुधार इस जीवन और अन्य जीवनकी पीड़ाओंसे छुटकारा पानेकी उपयुक्त अवस्था प्राप्त है। जो दुःखोंसे जल्दी छुटकारा दिला सुखका उपभोग कराए वही वास्तविक सभ्यता है और यही न्यायकी तीव्रालोचनासे भी सिद्ध है न कि वह आधुनिक सभ्यता जो इंद्रिय विषय वासनाओंमें फंसा हमें पशु सदृश बनानेमें कुछ कसर नहीं रखती। आधुनिक सभ्यतामें ध्यान देने योग्य विषय वर्तमानमें जीवन निर्वाह व्यय है। आजकल दिनोदिन यह जीवन-निर्वाह-व्यय अथवा ग्रहस्थीका खर्च बढ़ता जाता है। इस

कारण इस सभ्यताकी कृपा दृष्टिसे हर समय ही–दिन अथवा रात–में परिश्रम कर गृहस्थीका खर्च एकत्रित करनेमें और उन साधनोंके मिलनेकी चेष्टामें जिनसे मनुष्य अपनी समाज में " कोई आदमी " समझा जाता है मनुष्यका उपयोग लगा रहता है। इस प्रकार वर्तमान समयमें मनुष्य जीवनमें आत्मिक विकासके लिए कोई भी समय उपलब्ध नहीं होता है परन्तु वास्तविक सुख प्राप्ति हेतु अथवा मनुष्य जन्मकी सार्थकताके हेतु कर्म बंधनोंका क्षय कर अपनी अपूर्व निधिका प्राप्त करना आवश्यक है।

प्राचीन सभ्यतामें आधुनिककी नितान्त विपरीततामें मनुष्यको आत्मविकासकी ओर पूर्ण ध्यान था। इसी कारण उस समय जीवन

निर्वाह इतना सुगम था कि थोड़ेसे परिश्रममें ही मनुष्य स्वतंत्रता पूर्वक आनन्दसे जीवन व्यतीत करता था और साथ ही साथ शेष समयमें परमात्मोपासनामें अथवा अपने आत्म-विकाशमें व्यय करता था।

जैनधर्मने मोक्षाभिलाषी जीवात्माओंके लिए दो तरहके चारित्रका निरूपण किया है। (१) मुनि-धर्म। (२) गृहस्थधर्म। मुनिधर्मकी विषमता और चारित्रकी निर्मलता इसीसे विदित है कि उसमें उसी भवसे मोक्षप्राप्तिका प्रयत्न किया जाता है और गृहस्थ धर्म उन आत्माओंके लिए है जो मुनि धर्म धारण करनेमें असमर्थ हैं।

अतः जैनधर्मका आधुनिक सभ्यतासे संबंध होने पर किसी प्रकारकी भी क्षति उसके किसी अंगको प्राप्त नहीं हो सक्ती है सुतरां इससे

उसको इस अपूर्णताका अभाव हो जायगा जिसकी कृपासे आधुनिक सभ्य समाज आत्माको कोई वस्तु नहीं समझती और मनमाने पापाचरण कर इस भव और दूसरे भवोंमें दुःख उठाती है।

अन्तमें प्रिय पाठक! आपसे जैनधर्मको वैज्ञानिक ढंगसे अध्ययन करनेका ही निवेदन है और यदि आप आत्माके वास्तविक उद्देश्य-को ध्यानमें रक्खे रहोगे तो जैनधर्म ही उस उद्देश्यकी पूर्ति हेतु परमोत्कृष्ट मार्ग प्रदर्शित होगा। एवम् भवतु। *

ॐ शांति! शांति!